International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 422-423

मध्य गंगा घाटी में प्रारम्भिक लौह युगीन सामाजिक स्थिति

गुंजन बैस
प्राचीन इतिहास संस्कृति, एवं पुरातत्व विभाग, डॉ0 राम मनोहर लोहिया, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

प्रारम्भिक वैदिक कालीन संस्कृति पश्चिमोत्तर भारत और ऊपरी गंगा घाटी क्षेत्र से सम्बन्धित मानी जाती है। इसी से उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति विकसित हुई जो मध्य गंगा घाटी तक विस्तृत थी। अतएव संक्षेप में प्रारम्भिक वैदिक संस्कृति का वर्णन करना उचित होगा।

वेद एक विपुल ग्रन्थि राशि है जो कि ऋक, यजुः, साम, और अथर्व चार वेदों के नाम सुविदित है।[1] वैदिक कालीन सामाजिक–आर्थिक आधारों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषद, सूत्र ग्रन्थों एवं पणिनि कृत अष्टाधायी जैसे मूल ग्रन्थों के माध्यम से और अधिक सुस्पष्ट किया जा सकता है। तत्कालीन समाज व अर्थव्यवस्था की बेहतर समझ के निमित्त कतिपय सहायक ग्रन्थों की भूमिका भी सराहनीय रही है जिनका उल्लेख प्रसंगानुरूप होता रहेगा। वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित भारत के कुछ भौतिक अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के तिथिक्रम से मेल खाने वाली संस्कृतियाँ भी सहायक है, जो निम्नवत।

1. काली एवं लाल मृभाण्ड संस्कृति (Black and Red ware Culture)
2. ताम्रनिधि संस्कृति (Copper Hoard Culture)
3. गौरिक मृदभांड संस्कृति (Ochre Coloured Pottery Culture)

इनमें से किसी को भी निश्चित रूप से ऋग्वैदकालीन लोगों की कृति मानने में अनेकों कठिनाइयाँ है। उपरोक्त पुरातात्विक संस्कृतियों से जो भी छुट–पुट जानकारी प्राप्त होती है वह किसी स्थायी जीवन का संकेत नहीं देती। जहाँ तक उत्तर वैदिक कालीन साहित्य की पुरातात्विक पुष्टि का प्रश्न है उसके संबंध में सापेक्षिक रूप से कुछ अधिक प्रमाण उपलब्ध है, जो कि प्रसंगानुसार साहित्यिक तथ्यों के पुष्टि हेतु उल्लिखित किये जायेंगे। चूंकि हमारा पुरातात्त्विक ज्ञान अत्यन्त सीमित है, अतः वैदिक काल के जन–जीवन की झाँकी के लिए वैदिक साहित्य पर निर्भर होना अपरिहार्य ही है।[2] भौगोलिक विस्तार एवं जैविक और वानस्पतिक उल्लेखों के आधार पर एक मान्यता यह उभर रही है कि ऋग्वैदिक संस्कृति और हड़प्पा सभ्यता एक ही देश–काल से सम्बन्धित हैं। जैसे आज भारत में नगरीय और ग्राम्य संस्कृतियाँ विद्यमान हैं वैसे ही हड़प्पा सभ्यता नगरीय जीवन और वैदिक संस्कृति ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करती है।[3]

ऋग्वैदिक समाज की संरचना की पड़ताल के क्रम में सर्वप्रथम उसके जनजातीय स्वरूप से परिचय होता है जिसका नियमन समतावादी आदर्शों पर आधारित था। ऋग्वैदिक काल में समाज के चार वर्ग थे जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर आधारित थे। उनमें जन्म का कोई महत्व न था। अर्थात् जाति की उत्पत्ति अभी नहीं हुई थी। ऋग्वैदिक समाज आर्य और दास दो वर्गों में बंटा था। आर्य लोग जन और विश में बटे थे। ये इकाइयां भाईचारे के सिद्धान्त पर आधारित थी। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'आर्य वर्ण' तथा 'दास वर्ण' के रूप में मिलता है।[4] जो रंग के अर्थ में व्यवहृत है उस अर्थ में नहीं वर्ण व्यवस्था जिस अर्थ में बाद के कालों में समझी गयी। जहाँ तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है इस काल तक ये चारो वर्ण वंशानुगत नहीं हुए थे। ये केवल वृत्तिपरक नाम थे, जिन्हें अपनी क्षमता एवं इच्छा से कोई भी अर्थ प्रदत्त किया जा सकता था। कालान्तर में जब इन वर्गों अथवा समूहों का नियमित वर्णों के रूप में उल्लेख होने लगा तो उसमें सदस्यों को एक दूसरे से विशिष्टता प्रदत्त करने उद्देश्य से चारों वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न रंग निश्चित किए गए।[5] वर्ण व्यवस्था ऋग्वैदिक न होकर परवर्ती काल की सामाजिक व्यवस्था है।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग प्रतिभावान या गुणवान के रूप में हुआ था।[6] पैरोहित्य कर्म सदैव ब्राह्मणों के ही हाथों में नहीं रहता था। क्षत्रिय पुरोहित विश्वामित्र की प्रसिद्धि अज्ञात नहीं है। इसी भाँति ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द के भी अनेक आशय हैं। इसका प्रयोग जाति के अर्थ में न होकर शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के रूप में हुआ है।[7] तात्पर्य यह है कि वर्ण के अर्थों में इस वर्ण का भी विकास नहीं हो पाया था। 'विश' का प्रयोग केवल कृषक या व्यापारी के रूढ़ अर्थों में न होकर 'सम्पूर्ण' आर्य जन समुदाय के लिए हुआ है।[8]

ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान के पुरोहित, विद्या के संरक्षक और अध्यापक, विधि विधान के विशेषज्ञ और राजा के परामर्शदाता एवं धर्म के नेता थे। दान का प्रतिग्रह उनका विशेषाधिकार था। क्षत्रिय शासक और राष्ट्र के संरक्षक थे। शेष जनता वैश्यों और शूद्रों में विभक्त थी। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों के कर्म थे। शूद्रों का विशिष्ट कर्म, सेवा माना जाता था। किन्तु उनमें अनेक प्रकार की शिल्पी और जनजातियाँ सम्मिलित थीं। शूद्रों में दास और दस्यु सम्मिलित थे तथा समाज में उनकी स्थिति इन तीनों जातियों से नीची थी। वैदिक काल की समाप्ति से पूर्व ही शिल्पों और कलाओं के आधार पर अनेक उपजातियाँ बन चुकी थी। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र क्रमशः समाज के धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक क्रियाकलापों के आधार स्तम्भ थे।

प्रारम्भिक वैदिक समाज मुख्यतः पशुचारी था। ऋग्वेद के मूल भाग (मण्डल 3 से 9) में बहुत ही कम मंत्रों में कृषि का उल्लेख मिलता है। इस आधार पर अधिकतर विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वैदिक आर्यों का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन ही था। इसलिए वे वस्तुओं का मूल्य भी गायों के रूप में निर्धारित करते थे।[9] कबीलाई तत्वों की प्रधानता थी और समाज का समतावादी ढांचा भी उन्हीं तत्वों में से एक था। 'परिधि द्वारा केन्द्र को हस्तान्तरण' सिद्धान्त के आधार पर जनजातीय सरदार को जो भी मिलता था उसे बराबर बाँट दिया करते थे। ऋग्वेद के साक्ष्य से असमान वितरण के संकेत भी मिलते है।

सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान और विकास में जिस सामाजिक

संस्था ने सर्वाधिक योगदान दिया है वह 'परिवार' नामक संस्था थी। परिवार मानव जीवन के पूर्णता की आधारभूत इकाई रहा है। 'कुल या परिवार' व्यक्ति के समस्त क्रियाकलापों को केन्द्र था। कुल इसके लिए सामान्य व्यवहृत शब्द था। पिता या ज्येष्ठ भ्राता 'कुलप' कहलाता था।[10] परिवार में पिता का स्थान श्रेष्ठ था अतएव संरक्षक भी वही होता था।

विवाह की संस्था के पर्याप्त समादर एवं संकुचित नियमन के बिना परिवार का ऐसा विशद् एवं समरस अस्तित्व सम्भव ही नहीं था। बहुपत्नीत्व ज्ञात तो नहीं था, किन्तु प्रचलन एक पत्नीत्व का ही रहा होगा। बाल विवाह उस समय प्रचलित नहीं, था, किन्तु कालान्तर में इनका प्रचलन हो गया था।[11] ऋग्वेद में कम से कम दो जगहों पर वर वधू के लिए 'अर्थ' शब्द व्यवहृत है। परन्तु यदि इस उल्लेख को सन्दर्भों से जोड़कर देखें तो 'अर्थवर' अपने प्रतिद्विन्द्वी को परास्त कर जीवन साथी चुनता है या वरण करता है। किसी बालक से ऐसी उम्मीद करना कुछ अतिरिक्त की चाह रखना है।

प्राचीन भारत में विवाह को ऐसा संस्कार समझा जाता था जिसमें किसी भी परिस्थिति में विच्छेद सम्भव नहीं था।[12] समाज ने लगभग ईस्वी शती के आरम्भ तक पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद के अधिकतर को स्वीकार नहीं किया। जो स्त्री समाज के दृष्टिकोण की परवाह न करके अपनी इच्छा से दूसरे पुरूष से विवाह करने का दुस्साहस करती थी, नारद ने ऐसी स्त्री को 'स्वैरिणी' कहा है। जिसका अर्थ मनमाना आचरण करने वाली। ऐसी स्त्री के प्रति निरादर प्रकट किया गया है।[13]

ऋग्वैदिक समाज के बारे में निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास ही नहीं अपितु विश्व इतिहास के किसी भी काल से ऋग्वैदिक कालीन नारियाँ अधिक स्वन्तत्रता का उपभोग करती थी। पुत्रों के समान पुत्रियों को भी समुचित शिक्षा दीक्षा दी जाती थी। लोपा, मुद्रा, घोषा, अपाला, विश्वसरा, सिकता एवं निवावरा आदि स्त्रियों ने वैदिक मंत्रों की रचना की थी। तत्कालीन समाज में पर्दा प्रथा का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता।[14] स्त्रियों के सती होने का साक्ष्य नहीं है। कुछ मंत्रों को आधार बनाकर हम विधवा पुनर्विवाह का अभिद्योतन मान सकते हैं। ऋग्वैदिक नारी उत्तरवर्ती नारियों की अपेक्षा अधिक अधिकारों से युक्त थी और 'वस्तु' बनने से बची रह सकी थी।

भोजन के प्रकारों में अपूप, ओदन, करंभ, और यवागू अनाज के बने हुए होते थे। अपूप, यव के आटे और घी के साथ रोटी की तहर बनता था।[15] भात बनने के क्रम में चावल की अवस्था को ओदन कहा जाता था परन्तु ऋग्वेद में चावल का या ब्रीही का उल्लेख नहीं मिलता था। ब्रीहि का उल्लेख नहीं मिलता है।[16] ऋग्वैदिक आर्यों का खान–पान साधारण परन्तु पुष्टिदायक था। भोजन में सोमरस का विविध रूपों में प्रचुर उपयोग होता था। मांस का भोजन प्रचलित था। किन्तु सुरा को निन्दनीय माना जाता था। मांसाहार प्रायः यज्ञीय पशुओं (भेड़, बकरी व अजावयः) का ही होता था। ऋग्वैदिक युग में ऊन और चमड़े के गर्म कपड़े ही मुख्यतः देखे गए हैं। बुने परिधानों में 'तार्प्य' प्रधान था। कुछ विद्वान 'तार्प्य' को एक प्रकार का रेशमी कपड़ा मानते हैं। करघे से बुनने की प्रक्रिया का वितरण विस्तृत रूप में मिलता है। ऊष्णीय, अत्क, द्रापि, वासस, नीवी और उपानह परिधान के मुख्य प्रकार थे। 'नीवी' निचले अन्तर्वास का रूप थी, 'वासस' सामान्यता ऊपर का परिधान था। 'प्रवार' ओढ़ा जाता था। 'ऊष्णीय' शिरोवस्तु था। 'उपानह' पैरों में बांधा जाने वाला पादत्राण था।[17] वस्त्र का महत्व उसके रूप और शिल्प की निपुणता में माना जाता था।

गांव के घर लकड़ी, बाँस और छप्पर के बनाये जाते थे। उनमें बैठक(सदस) और अन्तर्गृह (परनी सदन) का भेद मिलता है। अनाज के रखने के किए कोठरी और पशुओं के लिए गोठ (गोष्ठ) आदि का उसमें प्रबंध रहता था। छत फूस से छायी होती थी, जो थूनी एवं बाँस के पच्चर पर टिकी होती थी।

उपसंहार

इस प्रकार ऋग्वैदिक स्त्री और पुरूष समान रूप से आभूषण प्रिय थे। आभूषण स्वर्ण निर्मित एवं मणि मुक्ता इत्यादि के होते थे। कर्णशोभन कान मे, निष्क गले में, तथा रूक्म छाती पर शोभायमान रहता था। गले में मणियों की माला भी पहनी जाती थी। केश सज्जा के भी विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते है। एक तरूणी द्वारा चार वेणियों से केश विन्यास किया गया था।[18]

संदर्भ

1. पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, 2001, वैदिक संस्कृति, पृष्ठ–सं0–5
2. झा, द्विजेन्द्र नारायण, 1984 कृष्ण मोहन श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, पंचम संस्करण, पृष्ठ–सं0–155
3. लाल, बी0बी0, डिड दा पेंटेड ग्रे वेयर अपटू दा मौर्या टाइम, पुरातत्व, IX (1977–78), पृष्ठ–सं0–68–78
4. ऋग्वेद–3.34.9 हत्वी दस्यू प्रायंवर्ण भावत् 1.12.4 यो दास वर्णमुधर गुहाकः
5. धुर्ये, जी0एस0, 1961, कास्ट, क्लास एण्ड अकुपेशन, पृष्ठ–सं0–40, बम्बई।
6. मिश्र, जी0एस0पी0, 1983, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृष्ठ–सं0–59
7. वही, पृष्ठ–सं0–59
8. ऋग्वेद, 1.25.1
9. प्रकाश, ओम, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पंचम संस्करण, पृष्ठ–सं0–20
10. ऋग्वेद, 10.179.9
11. प्रकाश, ओम, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, पंचम संस्करण, पृष्ठ–सं0–239
12. वही
13. काणे, पांडुरंग वामन, 1980, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द–2, भाग–5, पृ0सं0 608
14. मिश्र, जी0एस0पी0, 1983, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृष्ठ–सं0–65
15. ऋग्वैदिक 10.451–तु अपूंप देव धृतवन्त मग्ने
16. सिन्धु सभ्यता और परिवर्ती वैदिक साहित्य में विदित चावल ऋग्वेद में उल्लेखित कार्पास के अनुल्लेख से तुल्य है।
17. द्रापि–ऋग्वेद–4.53.2, अत्क–ऋग्वेद 6.21.3, नीवि–अथर्ववेद, 7.2.16
18. ऋग्वेद–10.114.3, चतुष्कपर्दायुवतिः सुपेक्षा